जैन तात्त्विक परम्परा में मोक्ष : रूप-स्वरूप

☐ राजीव प्रचंडिया, एडवोकेट

विश्व के समस्त दर्शनों में भारतीय दर्शन और भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका मूल कारण है जैन दर्शन का सृष्टि-पृथ्वी, तत्त्व-द्रव्य, नय-प्रमाण, ज्ञान-ध्यान, कर्म-अवतारवाद, अनेकान्त-स्याद्वाद तथा अहिंसा-अपरिग्रहवाद आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर सूक्ष्म-वैज्ञानिक-विश्लेषणात्मक चिन्तन। तात्त्विक विवेचन, विषादयुक्त वातावरण में समत्व का संचार, स्थायी सुख-शान्ति का स्रोत तथा सम्यक् श्रम-परिश्रम पुरुषार्थ अर्थात् जन्म-जरा-मृत्यु से सदा-सदा के लिये मुक्त होने की भावना-आस्था का जागरण आदि आत्मिक शक्तियों को प्रस्फुटित करने में सर्वथा सक्षम है। बस, आज आवश्यकता है इसके स्वरूप को ठीक-ठीक समझकर जीवन में उतारने की। निश्चय ही यह सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मिला जुला पथ प्रशस्त करायेगा।

सारा जगत्, लोक व्यवस्था, तत्त्व पर अवलम्बित है। चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग, औपनिषद तथा बौद्ध आदि समस्त नास्तिक-आस्तिक दर्शनों का मुख्य विषय तात्त्विक विवेचना का रहा है। वैदिकदर्शन में परमात्मा तथा ब्रह्म के लिये न्यायदर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल जाति और निग्रहस्थान नामक सोलह पदार्थों में, वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक छह तत्त्वों में, सांख्यदर्शन में जगत् के मूल कारण के रूप में पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, और पंच महाभूत नामक पच्चीस तत्त्वों में, बौद्धदर्शन में स्कन्ध, आयतन, धातु नामक तीन तत्त्वों में तथा चार्वाकदर्शन में पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि नामक चार तत्त्वों में तत्त्व की विवेचना स्पष्टतः परिलक्षित है। यद्यपि अपनी-अपनी दृष्टि से इन दर्शनों ने तत्त्व का प्रतिपादन किया है किन्तु जैनदर्शन की तत्त्वनिरूपणा अत्यन्त मौलिक एवं परम वैज्ञानिक है। वह संसारी जीव के विकास-ह्रास, सुख-दुःख तथा जन्म-मरण आदि अनेक समस्याओं का सुन्दर समाधान प्रस्तुत करती है। वास्तव में जीवन की गत्यात्मकता में तत्त्व की भूमिका अनिर्वचनीय है।

तत्त्व के स्वरूप को स्थिर करते हुए जैनदर्शन में जिस वस्तु का जो भाव है, उसे तत्त्व कहा है।[1] अर्थात् वस्तु का सच्चा स्वरूप तत्त्व कहलाता है। जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु के प्रति वही भाव रखना तत्त्व है। यह अनादि निधन है, स्वसहाय और निर्विकल्प है, इसलिए स्वभाव से सिद्ध है, सत् है और शाश्वत है अर्थात् नवीन अवस्थाओं की उत्पत्ति एवं पुरानी अवस्थाओं का विनाश होते रहने पर भी अपने स्वभाव का कभी परित्याग नहीं करता है अर्थात् भूत, वर्तमान व भविष्य तीनों काल में वह सदा विद्यमान रहता है।[2] जैनागम में परमार्थ

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य, स्वभाव, परम-परम, ध्येय, शुद्ध, तथा परम के लिए भी तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ है।[३] ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं। तत्त्व वास्तव में एक है किन्तु हेय व उपादेय के भेद से अथवा सामान्य विशेष भेद से जैनागमों में यह दो जीव और अजीव[४], सात—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष[५] तथा नौ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष[६] नामक भागों में विभक्त है। इन सब में जीव और अजीव तत्त्व ही प्रमुख है, शेष आस्रवादि तत्त्व जीव-अजीव की पर्याय होने से इन दोनों में ही समाहित हैं। संसार या मोक्ष दोनों में जीव प्रधान तत्त्व है। शरीर-मन-वचन की समस्त शुभ-अशुभ क्रियाएँ जीव के द्वारा सम्पादित हुआ करती हैं अर्थात् विश्व की व्यवस्था का मूलाधार जीव ही है।[७] जैनदर्शन के अनुसार जब जीव संसारी दशा में प्राण धारण करता है, तब जीव कहलाता है अन्यथा ज्ञान-दर्शन-स्वभावी होने के कारण यह आत्मा से संज्ञायित है। वैसे इसके अनेक पर्यायवाचक शब्द जैनागम में स्पष्टतः परिलक्षित है।[८] यह अनन्तगुणों का स्वामी एक प्रकाशात्मक अमूर्त्तिक सत्ताधारी पदार्थ है, कल्पना मात्र नहीं है, नहीं पंचभूतों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाला कोई संयोगी पदार्थ है। संसारी दशा में शरीर में रहते हुए भी शरीर से पृथक्, लौकिक विषयों को करता एवं भोगता हुआ भी यह उनका केवल ज्ञाता मात्र है। यद्यपि यह लोक-प्रमाण असंख्यातप्रदेशी है परन्तु संकोच-विस्तार शक्ति के कारण शरीर प्रमाण होकर रहता है। जैनदर्शन की मान्यता है कि जीव अनन्तानन्त हैं। प्रत्येक संसारी जीव कर्मों से प्रभावित रहता है। जो जीव साधना कर कर्म-श्रृंखला को काट—क्षय कर देता है, वह सदा अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता बन अर्थात् परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर विकल्पों से सर्वथा मुक्त होकर केवल ज्ञाता दृष्टा भाव में स्थिति पाता है।[९] इस प्रकार जीव के लक्षण-स्वरूप को स्थिर करते हुए जैनदर्शन कहता है कि जिस तत्त्व में ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोग अर्थात् चेतना शक्ति अर्थात् सुख-दुःख अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि की अनुभूति करने की क्षमता अर्थात् स्व और पर का ज्ञान और हित-अहित का विवेक विद्यमान हो, वह वस्तुतः जीव कहलाता है।[१०] जैनागम में संसारी और मुक्त नामक दो भागों में यह जीव विभक्त है।[११] संसारी जीवों को भव्यता-अभव्यता[१२], संज्ञी-असंज्ञी[१३], त्रस-स्थावर[१४], बादर-सूक्ष्म[१५] बहिर्-अन्तर्-परम् आत्मा[१६] तथा चार गतियों[१७] आदि के आधार पर वर्गीकृत कर इसके स्वरूप का वर्णन हमें विस्तार से देखने को मिलता है। जीवस्वरूप से विपरीत लक्षण वाला अर्थात् जड़-अचेतन अर्थात् जिसमें चेतना का सर्वथा अभाव हो, वह तत्त्व अजीव है।[१८] संसार के समस्त दृश्य भौतिक पदार्थ अजीव कहलाते हैं। जैनागम में आध्यात्मिक[१९] तथा काय की[२०] दृष्टि से इसके अनेक भेद-प्रभेद किए गए हैं। अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आने वाले पुण्य-पाप तत्त्व की विवेचना भी जैन-दर्शन में वर्णित है। जहाँ मन-वचन और काय के शुभ योग की प्रवृत्ति अर्थात् शुभ कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थिर हो, वहाँ पुण्य[२१] तथा जहाँ अशुभ योग की प्रवृत्ति अर्थात् अशुभ कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध की स्थापना हो वहाँ पाप तत्त्व[२२] है।[२३] ये पुण्य-पाप संसार के वर्धक हैं। जैनागम में पुण्य और पाप तत्त्व उपार्जन के क्रमशः नौ तथा अठारह कारण बताये गये हैं।[२४] जिनमें संसारी जीव सदा प्रवृत्त रहता हुआ संसार-सागर में डूबता उतराता रहता है। जैन तात्त्विक क्रम में पुण्य-पाप तत्त्व के बाद आस्रव का स्थान निर्धारित है। मन, वचन और काय की वह सब प्रवृत्तियाँ, जिनसे कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं अर्थात् पुण्य-पाप रूप कर्मों का आगमन-द्वार आस्रव कहलाता है।[२५] यह तत्त्व आत्मा के वास्तविक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनागम में वर्णित हैं।[26] कर्म-पुद्गलों के आत्मा की ओर आकृष्ट होने पर जब वे आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह / एक ही स्थान में रहने वाला सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं अर्थात् आत्म-तत्त्व जब कर्मों से संपृक्त हो जाता है तब जो स्थिति होती है वह बन्ध की स्थिति होती है।[27] मूलतः जीव के मनोविकार ही कर्मबन्ध की स्थिति को स्थिर किया करते हैं, अस्तु जैन-दर्शन में बन्ध को चार भागों—प्रकृति (कर्मों की प्रकृति/स्वभाव की स्थिरता), स्थिति (कर्मफल की अवधि/काल की निश्चितता), अनुभाग/अनुभव (कर्मफल की तीव्र या मन्द शक्ति की निश्चितता) तथा प्रदेश (कार्मिक सम्बन्ध में कर्मों की संख्या की नियतता) में वर्गीकृत किया गया है।[28] जिनमें प्रकृति-प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से तथा स्थिति-अनुभागबन्ध, कषाय-मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद के निमित्त से हुआ करते हैं।[29] यह बन्ध तत्त्व संसारी जीव को अनन्त भवों में, संसारचक्र में परिभ्रमण कराता रहता है तथा जीव को वास्तविक स्वरूप से उसकी प्रतीति से सर्वथा वंचित रखने में अपनी भूमिका का निर्वाह भी करता है। आत्म-स्वरूप-प्रतीति-प्राप्त्यर्थ संसारी जीव को आस्रव-निरोध अर्थात् कर्मद्वार को बन्द करना पड़ता है, जिससे नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है। जैनदर्शन में इस प्रक्रिया को 'संवर' कहा गया है।[30] यह द्रव्य और भाव दो प्रकार का माना गया है।[31] संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना अर्थात् आत्मा का शुद्धोपयोग। शुद्धचेतन परिणाम भावसंवर तथा कर्मपुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद होना—निरोध करना अर्थात् जो द्रव्यास्रव को रोकने में कारण भूत हैं, द्रव्य संवर कहलाता है।[32] इस प्रकार संवर द्वारा नए कर्म रोके जाते हैं किन्तु पुराने-संचित कर्मों से निवृत्ति भी परमावश्यक है। इसके लिए जो साधना की जाती है, उसे निर्जरा कहा जाता है।[33] यह साधना ध्यान-ज्ञान तथा तपादि के द्वारा पूर्ण होती है। इसमें लीन साधक अपने समस्त कर्मों को क्षय करता हुआ आत्मिक आनन्दानुभूति के साथ वीतरागता को प्राप्त होता है। जैनदर्शन में निर्जरातत्त्व के अनेक दृष्टि से भेद-प्रभेद किये गये हैं।[34] ये सभी भेद पूर्वबद्ध कर्म-फल की मलिनता को शनैः शनैः दूर करने के उपाय—साधन हैं। नवीन तथा पूर्वबद्ध अर्थात् समस्त कर्मों से संसारी जीव जब मुक्त-विमुक्त हो जाता है तब वह मोक्षावस्था को प्राप्त हो जाता है अर्थात् संसार के आवागमन से छूट जाता है। जैन तात्त्विक परम्परा में मोक्ष अन्तिम तत्त्व है।

प्रस्तुत निबन्ध में जैन तात्त्विक परम्पराओं में मोक्ष का क्या स्वरूप है? उसकी प्राप्ति के क्या विधि-विधान हैं? आदि महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी विषय पर संक्षिप्त चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

समस्त भारतीय दर्शन के चिन्तन का केन्द्रबिन्दु है—आत्म-स्वरूप तथा उसकी प्रतीति की प्राप्ति अर्थात् संसारी जीव के अन्तिम लक्ष्य—साध्य के स्वरूप को निर्धारित कर उसकी प्राप्ति के लिए साधन/उपाय को जन-जन तक पहुँचाना। यह परम सत्य है कि समस्त आस्तिक दर्शनों का मार्ग्य/साध्य तो एक ही है किन्तु मार्ग/साधना में किंचित् भिन्नता है अर्थात् मोक्ष की कल्पना सभी आस्तिक दर्शनों में हुई है। अपने-अपने ढंग से उसके स्वरूप पर निरूपण भी हुआ है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा बौद्धदर्शन में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष माना है।[35] इनकी मान्यतानुसार मोक्ष में शाश्वत सुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वेदान्त के मत में जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन मोक्ष है।[36] इसमें शाश्वत सुख की प्रधानता है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष हो जाने पर स्वतः ही हो जाती है।[37] इस

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार इन समस्त दर्शनों में मोक्ष को सुख की उपलब्धि तथा समस्त सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है किन्तु मोक्ष-साधना में ये सभी दर्शन एक मत नहीं हैं। नैयायिक तथा वैशेषिकदर्शन प्रमाण और प्रमेयादि तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष का साधन मानते हैं जबकि सांख्य और योगदर्शनानुसार प्रकृति-पुरुष का विवेक, भेद-विज्ञान से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वेदान्त दर्शन अविद्या और उसके कार्य से निवृत्ति को मोक्ष का साधन स्वीकारते हैं तथा बौद्धदर्शन के अनुसार संसार को दुःखमय, क्षणिक एवं शून्यमय समझना मोक्ष का साधन है।[३८] यह दर्शन तप की कठोरता तथा विषयभोगों के अतिरेक की अपेक्षा मध्यममार्ग अपनाने पर अधिक बल देता है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति को मोक्ष के उपाय/साधन मानते हैं जिसके माध्यम से संसारी जीव मोक्ष पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है।[३९] किन्तु इन समस्त दर्शनों में जैनदर्शन की मोक्ष सम्बन्धी धारणा अत्यन्त व्यापक, सार्थक तथा परम वैज्ञानिक है। इसके अनुसार सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना अर्थात् समस्त बन्धनों से मुक्ति अर्थात् आत्मा और बन्ध का पृथक्करण ही मोक्ष है।[४०] जिसकी प्राप्ति पर यह संसारी जीव बार-बार जन्म-मरण से मुक्त अर्थात् सांसारिक सुख-दुःख से पूर्णतया निवृत्त हो, अपने वास्तविक विशुद्ध-स्वरूप में रमण करता हुआ अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। फिर वह न तो वेदान्त दर्शन की भाँति ब्रह्मस्वरूप में लीन और न ही सांख्यदर्शन की भाँति प्रकृति को तटस्थ भाव से देखता रहता है और नहीं वह इस जगत् का निर्माण-ध्वंसकर्ता, भाग्यविधाता बनता है अपितु जगत्/संसार से पूर्णतः निर्लिप्तता, वीतरागता से परिपूर्ण अपने ही परमानन्दमय स्वरूप में स्थित हो जाता है।

जैनदर्शन के अनुसार संसारी जीव चार गतियों—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव—में से मात्र मनुष्यगति से ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[४१] आयु के अन्त में वह स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोकशिखर पर, जिसे सिद्ध-शिला कहा जाता है, अवस्थित हो जाता है, जहाँ वह अनन्त काल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करता हुआ अपने चरम शरीर के आकार रूप से स्थित रहता है। ज्ञान ही उसका शरीर होता है।[४२] अन्य दर्शनों की भाँति जैनदर्शन उसके प्रदेशों की सर्वव्यापकता को स्वीकार नहीं करता और न ही उसे निर्गुण व शून्य मानता है। उसके स्वभावजन्य अनन्त ज्ञानादि आठ प्रसिद्ध गुणों के समुच्चय को स्वीकारता है। इस दर्शन के अनुसार जितने जीव मोक्ष को प्राप्त होते हैं उतने ही निगोद राशि से निकल कर व्यवहारराशि में आजाते हैं जिससे लोक जीवों से रिक्त नहीं होता, अपितु सदा भरा रहता है।[४३]

जैनदर्शन की धारणा मोक्ष-भेद के सम्बन्ध में स्पष्ट है। वह सामान्यतः मोक्ष को एक ही प्रकार का मानता है किन्तु द्रव्य, भाव और भोक्तव्य की दृष्टि से यह अनेक प्रकार का होता है, यथा—जीवमोक्ष, पुद्गलमोक्ष, जीव-पुद्गल मोक्ष।[४४] द्रव्य और भाव के भेद से इसके दो भेद किए जा सकते हैं, एक भावमोक्ष तथा दूसरा द्रव्यमोक्ष।[४५] क्षायिक ज्ञान दर्शन व यथाख्यातचारित्र नाम वाले (शुद्ध रत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं, उन परिणामों को भाव मोक्ष अर्थात् कर्मों के निर्मूल करने में समर्थ ऐसा शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप (निश्चय रत्नत्रयात्मक) जीवपरिणाम भावमोक्ष है और सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना अर्थात् भावमोक्ष के निमित्त से जीव व कर्मों के प्रदेशों का निरवशेष रूप से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष कहलाता है।[४६] वास्तव में भावमोक्ष ही मोक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[४७] क्योंकि जीवों के भावों में ही बन्धन है, मोक्ष है। मोक्ष के लिए किसी लिंग, जाति, कुल आदि का आधार नहीं होता अपितु यह जीव के सम्यक् पुरुषार्थ अर्थात् राग-द्वेषजन्य विकल्प-विचारों से मुक्त होने के उपक्रम पर निर्भर करता है। मोक्ष के इस व्यापक स्वरूप को समझने से पूर्व कर्म-शृंखला तथा बन्ध-प्रणाली को समझना परम आवश्यक है। यह निश्चित है, बंध-प्रक्रिया समझने के उपरान्त ही कोई भी संसारी जीव बन्धन काटकर मोक्ष पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त तथा बौद्धदर्शन की भाँति जैनदर्शन भी कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि मानता है। संसारी जीव अपने कृत कर्मों के विनष्ट करने तथा नवीन कर्मों के उपार्जन में ही सर्वथा व्यस्त एवं त्रस्त रहता है। संसारी आत्मा तथा मुक्तात्मा अर्थात् संसार एवं मोक्ष में भेदकरेखा मात्र कर्म-बन्धनों की है। कर्मयुक्त जीव संसारी जीव तथा कर्ममुक्त जीव मुक्तात्मा/सिद्धात्मा कहलाते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार संसारी जीव जब कोई कार्य करता है तो उसके आस-पास के वातावरण में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके कारण उसके चारों ओर उपस्थित कर्म शक्ति युक्त सूक्ष्मपुद्गलपरमाणु/कर्म-वर्गणा अर्थात् कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और इस प्रकार यह आत्मा कर्मबन्धनों में जकड़ती चली जाती हैं। जैनदर्शन में कर्म को मूलतः दो भागों में विभक्त किया गया है। एक तो वे कर्म जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करते हैं, घातिकर्म कहलाते हैं। इनके अन्तर्गत वे ज्ञानावरणीय (आत्मा के ज्ञान गुण का प्रच्छन्न होना) दर्शनावरणीय (आत्मा का अनन्त दर्शनगुण अप्रकट रहना) मोहनीय (मोह को उत्पन्न करना) और अन्तराय (आत्मा में व्याप्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द के तथा अन्य सामर्थ्यशक्ति को क्षीण करना) कर्म आते हैं तथा दूसरे वे कर्म जिनके द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप के आघात की अपेक्षा जीव की विभिन्न योनियाँ, अवस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ निर्धारित हुआ करती हैं, अघाति कर्म कहलाते हैं। इनमें नाम (शरीरादि का निर्माण), गोत्र (गोत्र, कुटुम्ब, वंश, कुल, जाति, आदि का निर्धारण करना) आयु (जीव की आयु को निश्चित करना) और वेदनीय (जीव की सुख-दुःख की वेदना का अनुभव होना) कर्म समाविष्ट हैं।[४८] इन अष्ट कर्मों की एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियाँ जैनागम में उल्लिखित हैं, जिनमें ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तिरानवें, गोत्र की दो तथा अन्तराय की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं।[४९] इस प्रकार ये घाति-अघातिकर्म आत्मा के स्वभाव को आच्छादित कर जीव में ज्ञान, दर्शन व सामर्थ्यशक्ति को क्षीण करते हैं तथा वे कर्म जीव पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना प्रभाव डालते हैं, जिसके फलस्वरूप संसारी जीव संसार में ही भ्रमण करता हुआ सुख-दुःख के घेरे में घिरा रहता है। इन अष्टकर्मों के अतिरिक्त 'नोकर्म' का भी उल्लेख आगम में मिलता है। कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिकशरीरादि, जो आत्मा के सुख-दुःख में सहायक होता है, नोकर्म कहलाता है।[५०] ये नोकर्म भी जीव पर अन्य कर्मों की भाँति अपना प्रभाव डाला करते हैं।

प्रश्न उठता है कि ये कौन से कारण हैं जिनके द्वारा ये कर्म संसारी जीवों पर अपना प्रभाव डाला करते हैं? इस विषय पर कर्म में आस्था रखने वाले सभी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से चिन्तन किया है। नैयायिक, वैशेषिकदर्शन, मिथ्याज्ञान को, योगदर्शन प्रकृति-

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष के अभेदज्ञान को तथा वेदान्त आदि अविद्या को कर्मबन्ध का मूल कारण मानते हैं[५१]। किन्तु इस दिशा में जैनदर्शन की मान्यता है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगादि (काय-मन-वचन की क्रिया आदि) कर्मबन्ध के मुख्य हेतु हैं,[५२] जिनमें लिप्त रहकर जीव कर्मजाल में बुरी तरह जकड़ा रहता है। इनसे मुक्त्यर्थ जीव को अपने भावों को सदैव शुद्ध रखने के लिये कहा गया है। क्योंकि कोई भी कार्य करते समय यदि जीव की भावना शुद्ध तथा राग-द्वेष—क्रोध-मान-माया-लोभ, कषायों से निर्लिप्त वीतरागी है तो उस समय शारीरिक कार्य करते हुए भी कर्मबन्ध नहीं होता। कार्य करते समय जिस प्रकार का भाव जीव के मन में उत्पन्न होता है, उसी भाव के अनुरूप जीव में कर्मबन्ध हुआ करता है। कर्मबन्ध की तीव्रता-मन्दता अर्थात् आत्मस्वरूप के प्रकटीकरण अर्थात् आत्म-विकास की दशा के आधार पर जीव की तीन स्थितियाँ जैनधर्म में दृष्टव्य हैं। एक स्थिति में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता है, दूसरी में आत्मज्ञान का उदय तो होता है किन्तु राग-द्वेष आदि काषायिक भाव अपना प्रभाव थोड़ा बहुत डालते रहते हैं तथा तीसरी में राग-द्वेष का पूर्ण उच्छेदन अर्थात् आत्मस्वरूप का पूर्ण प्रकटीकरण होता है। पहली स्थिति वहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादर्शी की, दूसरी अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दर्शी की तथा तीसरी स्थिति परमात्मा अर्थात् सर्वदर्शी की कहलाती है।[५३] इस प्रकार संसारी जीव की निकृष्ट अवस्था से उत्कृष्ट अवस्था तक अर्थात् संसार से मोक्ष अवस्था तक जाने का एक क्रमिक विकास है। आत्मा का यह क्रमिक विकास किसी न किसी रूप में प्रायः सभी भारतीयदर्शन, वैदिक दर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन क्रमशः भूमिकाओं[५४], अवस्थाओं[५५] तथा गुणस्थानों[५६] के नाम से स्वीकारते हैं। जैनदर्शन के अनुसार ये गुणस्थान मिथ्यादृष्टि आदि के भेद से चौदह होते हैं,[५७] जिनमें से होकर जीव को अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए अन्तिम लक्ष्य-साध्य तक पहुँचना होता है। इन गुणस्थानों में मोह-शक्ति शनैः शनैः क्षीण होती जाती है और अन्त में जीव मोह-आवरण से निरावृत होता हुआ निष्प्रकम्प स्थिति में पहुँच जाता है। गुणस्थानों में पहले तीन स्थान वहिरात्मा की अवस्था, चतुर्थ से बारह स्थान अन्तरात्मा की अवस्था तथा तेरहवां एवं चौदहवां गुणस्थान, परमात्मा की अवस्था हैं।[५८] प्रारम्भ के बारह गुणस्थान मोह से तथा अन्तिम दो गुणस्थान योग से सम्बन्धित हैं। इन गुणस्थानों में कर्मबन्ध की स्थिति का वर्णन करते हुए जैनागम में स्पष्ट निर्देश है कि प्रथम दश गुणस्थान तक चारों प्रकार के बन्ध—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश होते रहते हैं किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध ही शेष रहते हैं। चौदहवें गुणस्थान में ये दोनों भी समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर चारों प्रकार के बन्ध से मुक्त होकर यह जीवात्मा सिद्ध/परमात्मा हो जाता है अर्थात् मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

आत्मा के आध्यात्मिक विकास अर्थात् सम्पूर्ण कर्म-विपाकों से सर्वथा मुक्ति के लिए अर्थात् मोक्षप्राप्त्यर्थ जैनदर्शन मुख्यतः चार साधन—उपायों को दर्शाता है। ये हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् रत्नत्रय तथा तप।

यह निश्चित है कि आत्मा स्वभावतः कर्म और नोकर्म से, जो पौद्गलिक हैं, सर्वथा भिन्न हैं। यह अनुभूति भेद-विज्ञान कहलाती है, जो जीव को तपःसाधना की ओर प्रेरित करती है। आगम में तप की परिभाषा को स्थिर करते हुए कहा गया है कि कर्मक्षय के लिए जो तपा जाय वह तप है।[५९] जैनदर्शन में तप के मुख्यतया दो भेद किये गये हैं—एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्यतप जिसके अन्तर्गत अनशन/उपवास अवमौदर्य/ऊनोदर, रसपरित्याग, भिक्षाचरी/ वृत्तिपरिसंख्यान, परिसंलीनता/विविक्त शय्यासन और कायक्लेश तथा दूसरा आभ्यन्तर तप जिसमें विनय, वैयावृत्य/सेवा-शुश्रूषा प्रायश्चित, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग/ व्युत्सर्ग नामक तप आते हैं।[६०] आभ्यन्तर तप की अपेक्षा बाह्यतप व्यवहार में प्रत्यक्ष परिलक्षित है किन्तु कर्मक्षय और आत्मशुद्धि के लिए तो दोनों प्रकार के तपों का विशेष महत्त्व है। वास्तव में तप के माध्यम से ही जीव अपने कर्मों की निर्जरा कर सकता है। कर्ममुक्ति अर्थात् मोक्षप्राप्त्यर्थ जैनदर्शन का लक्ष्य रहा है—वीतराग-विज्ञानता की प्राप्ति। यह वीतरागता सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है।

जैनदर्शन में रत्नत्रय के विषय में विस्तार से तर्कसंगत चर्चा हुई है। इसके अनुसार जीव—अजीव आदि नवविध तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान, तत्त्वों के यथार्थस्वरूप पर किया गया श्रद्धान / दृढ़ प्रतीति अर्थात् स्वात्मप्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर भेद का या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक सम्यक् दर्शन तथा आचरण द्वारा अन्तःकरण की शुद्धता अर्थात् कर्मबन्ध के वास्तविक कारणों को अवगत कर संवर (नवीन कर्मों को रोकना) तथा निर्जरा (पूर्व संचित कर्मों का तप द्वारा क्षय करना) में लीन रहना, सम्यग् चारित्र कहलाता है।[६१] जैनदर्शन में सम्यग् दर्शन की महत्ता पर बल दिया गया है।[६२] उसे मोक्ष का प्रथम सोपान माना गया है। बिना सम्यग् दर्शन के सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान-अनुभूति तथा समस्त क्रियाएँ मिथ्या होती हैं। वास्तव में सम्यग् दर्शन के अभाव में ज्ञान चारित्र व्रत तथा तपादि सब निस्सार हैं।[६३] यह निश्चित है कि सम्यग्दर्शन से जीव सर्वप्रकार की मूढ़ताओं से ऊपर उठता चला जाता है अर्थात् उसे भौतिक सुख की अपेक्षा शाश्वत आध्यात्मिक सुख का अनुभव होने लगता है।[६४] सम्यग्ज्ञान के विषय में जैनदर्शनों की मान्यता है कि जिस ज्ञान में संशय, विपर्यास, अनध्यवसाय तथा मिथ्यात्व का अभाव हो वह यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है।[६५] सम्यग् दृष्टि युक्त जीव का ज्ञान मिथ्यात्व पर नहीं, सम्यक्त्व पर आधारित होता है। जैनागम में ज्ञान की तरतम अवस्थाओं, कारणों एवं विषयादि के आधार पर ज्ञान के अनेक भेद-प्रभेद किए गये हैं।[६६] मति-श्रुत तथा अवधि ज्ञान मिथ्यात्व के संसर्ग से एक बार मिथ्याज्ञान की कोटि में आ सकते हैं किन्तु मनःपर्याय और केवलज्ञान सम्यक्दर्शी जीवों में पाए जाने के कारण सम्यग्ज्ञान की ही सीमा में आते हैं। इस सम्यग्ज्ञान से संसारी जीव जीवन-मुक्त अर्थात् सिद्धत्व के सन्निकट पहुँचता है। सम्यक् चारित्र के विषय में जैनदर्शन का दृष्टिकोण है कि बिना इसके मोक्ष तक पहुँचना नितान्त असम्भव है। इसकी सम्यक् आराधना से दर्शन, ज्ञान व तप की आराधना भी हो जाती है। क्योंकि जो चारित्र रहित है उसका ज्ञान गुण निरर्थक है। इस प्रकार तीनों का समन्वित रूप ही मोक्ष का मार्ग स्पष्ट करता है।[६७] वस्तुतः श्रद्धा ज्ञान और चारित्र से कर्मों का निरोध होता है। जब जीव सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होता है तब आस्रव से रहित होता है जिसके कारण नवीन कर्म कटते और छँटते हैं, पूर्वबद्ध कर्म क्षय होने लगते हैं, कालान्तर में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरणीय, और दर्शनावरणीय ये तीन कर्म भी एक साथ सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। इसके उपरान्त शेष बचे चार अघाति कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय कर संसारी जीव मोक्ष को प्राप्त होता है।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में यही कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में उल्लिखित तत्त्व-मीमांसा मोक्ष-मार्गपरक है। यह संसारी जीव को अपने वास्तविक स्वरूप में लाने के लिए सच्चे पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करती है। जीव से लेकर मोक्ष तक तत्त्व की इस परम्परा में आस्रव-पुण्य-पाप तथा बन्ध तत्त्व सांसारिक वृत्तियों अर्थात् राग द्वेषादि-काषायिक भावों के परिणामों को दर्शाते हैं, संवर और निर्जरा कर्म-युक्ति की साधना का विवेचन करते हैं तथा मोक्ष तत्त्व संसारी जीव के आध्यात्मिक विकास में अर्थात् आत्मा के वास्तविक स्वरूप-स्वभाव के प्रकटीकरण में एक प्रभावी भूमिका का निर्वाह करता है। वास्तव में मोक्षतत्त्व साधना-फल-परिणाम को दर्शा कर संसारी जीव में संसार से वैराग्य उत्पन्न कर मुक्ति की ओर प्रेरित करता है। □□

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

१. (क) तद्भावस्तत्त्वम्।—सर्वार्थसिद्धि, २।२।१५०।११,
(ख) स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम्।-राजवार्तिक, २।१।६।१००।२५,

२. (क) तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्। तस्मादनादि-निधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च।—पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध,८
(ख) सद् दव्वं वा,।—भगवती, ८।९
(ग) उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा।—स्थानाङ्गसूत्र, १०,

३. तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा॥ -बृहद् नयचक्र, गाथा, ४,

४. द्रव्यसंग्रह, चूलिका, २८।८५।२

५. (क) प्रज्ञापना वृत्ति, आचार्य मलयगिरि,
(ख) जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।२,४
(ग) नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, ५।१२।१
(घ) श्लोकवार्तिक, २।१।४।४८।१५६।९

६. (क) अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरणिज्जरकिरियाहिगारण-बन्धमोक्खकुसला। —भगवतीसूत्र।
(ख) प्रज्ञापना
(ग) जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा। संवरो निज्जरा मोक्खो संते-ए तहिया नव।—उत्तराध्ययनसूत्र, २८।१४
(घ) स्थानाङ्गसूत्र, स्था०९, सूत्र ६६५,
(ङ) जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवर णिज्जर बन्धो मोक्खो य हुंवति ते अट्ठ॥
—पंचास्तिकाय, २।१०८

७. चिन्तन की मनोभूमि, लेखक—उपाध्याय अमरमुनि, पृष्ठ ७१,

८. (क) जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा। प्रमातात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययः।—महापुराण, २४।१०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) जीवो कत्ता या वत्ता य पाणी भोक्ता या पोग्गलो ।....
अन्तरप्पा तहेव य ।—धवला, १।१,१,२ । गाथा ८१
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८, गाथा ११,

९. (क) जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, पृष्ठ ३३०
(ख) प्रदेशसंहार-विसर्गाभ्यां, प्रदीपवत् ।—तत्त्वार्थसूत्र ५।१६,
(ग) राजप्रश्नीयसूत्र, ७४
(घ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १४, गाथा १९

१०. (क) उवयोगलक्खणे जीवे ।—भगवतीसूत्र, श० २, उ० १०
(ख) जीवो उवयोगलक्खणो—उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८, गाथा १०
(ग) जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो ।....।—पंचास्तिकाय, मूल, २
(घ) तत्र चेतनालक्षणो जीवः—सर्वार्थसिद्धि, १।४।१४।३,
(ङ) लक्खणमिह भणियमादाज्झेओ....।—बृहद्नयचक्र, गाथा ३९०
(च) णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स—द्रव्यसंग्रह, मूल, ३

११. (क) संसारिणो मुक्ताश्च—तत्त्वार्थसूत्र, २।१०
(ख) पंचास्तिकाय, मूल, १०९,
(ग) बृहद्नयचक्र, १०५

१२. (क) जीवभव्याभव्यत्वानि च—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र ७
(ख) पंचास्तिकाय, मूल, १२०,

१३. (क) समनस्का अमनस्काः—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र ११
(ख) द्रव्यसंग्रह, मूल १२।२९,

१४. (क) संसारिणस्त्रसस्थावराः—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र १२-१४
(ख) बृहद्नयचक्र, १२३
(ग) स्थानाङ्गसूत्र, स्थान २ उद्देशा १, सूत्र ५७
(घ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १०
(ङ) आचारांगसूत्र, अ० १
(च) प्रज्ञापना, पद प्रथम, १, २, ३

१५. द्विविधाजीवाः बादराः सूक्ष्माश्च —राजवार्तिक, ५।१५।५।४५८।९

१६. (क) जीवा हवंति तिविहा वहिरप्पा तह य अंतरप्पा य । परमप्पा वि य दुविहा
अरहंता तह य सिद्धा य ।।—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल, १९२
(ख) तिपयारो सो अप्पापरमितरवाहरो दु हेऊणं—मोक्षपाहुड़, मूल ४

१७. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।६।१५९।२
(ख) षट्खण्डागम, १।१, १।सू०, २४।२०१

१८. (क) तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः—सर्वार्थसिद्धि, १।४।१४
(ख) इत्युक्तलक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्यजीव इति विज्ञेयम् ।
—द्रव्यसंग्रह, टीका, १५।५०
(ग) पंचास्तिकाय, २।१२२
(घ) स्थानाङ्गसूत्र, २।१।५७

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

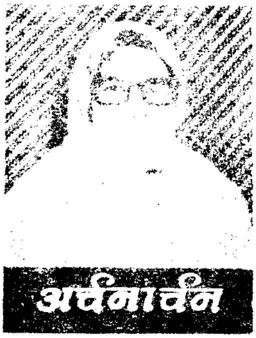

१९. तच्च द्विविधम् । जीवसम्बन्धमजीवसम्बंधं च ।

—परमात्म प्रकाश, टीका, १।३०।३३

२०. (क) अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । कालश्च—तत्त्वार्थसूत्र, ५।१३९

(ख) द्रव्यसंग्रह, मूल १५।५०

(ग) प्रवचनसार, १२७

(घ) उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।४

(ङ) समवायाङ्गसूत्र, १४९

२१. (क) शुभः पुण्यस्य—तत्त्वार्थसूत्र, ६।३

(ख) पुण्यं शुभकर्मप्रकृतिलक्षणम्—सूत्रकृतांगे शी० वृ० २,५, १६ पृष्ठ १२७

(ग) मूलाचारवृत्ति, वसुनंद्याचार्य, ५।६

(घ) समवायाङ्गसूत्र, अभय० १ पृष्ठ ५

(ङ) षड्दर्शनसमुच्चय, गुण० वृ० ४७, पृष्ठ १३७

(च) पुनाति, पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम् ।

—स्थानाङ्गसूत्र, अभयदेव टीका, प्रथमस्थान ।

२२. (क) पापम् अशुभं कर्म—समवायाङ्ग, अभय० १ पृष्ठ ६

(ख) अशुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पापम् ।

—पंचास्तिकायवृत्ति, अमृतचन्द्राचार्य, १०८

२३. (क) पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्—सर्वार्थसिद्धि, ६।३

(ख) पात्यवति रक्षति आत्मानं कल्याणादिति पापम् ।

—तत्त्वार्थ, श्रुतसागरीयावृत्ति, ६।३,

२४. (क) जैनदर्शनस्वरूप और विश्लेषण, लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री पृष्ठ १९३,

(ख) स्थानाङ्गसूत्र, ९

(ग) बोलसंग्रह, भाग ३, पृष्ठ १८२

(घ) नव पुण्णे, ठाणांग, ठाणा ९,

२५. (क) समवायाङ्गसूत्र, समवाय, ५

(ख) अध्यात्मसार, १८।१३१

(ग) आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति मल० हेम० हि०, पृष्ठ ८४

(घ) आस्रवति प्रविशति कर्म येन स प्रणातिपातादिरूपः आस्रवः कर्मोपादान-कारणम्—सूत्रकृताङ्ग, शीला० वृत्ति, २।५।१७, पृष्ठ १२८

(ङ) योगप्रणालिकयात्मानः कर्म आस्रवतीति योग आस्रवः ।

(च) कायवाङ्मनः कर्म योगः । स आस्रवः—तत्त्वार्थसूत्र, ६।१-२

(छ) आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः । पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः—
राजवार्तिक, १।४।९, १६।२६

२६. (क) बृहद्नयचक्र, मू० आस्रव ।१५२

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ६।४

(ग) सर्वार्थसिद्धि, ६।४।३२०।८

(घ) वारस अणुवेक्खा, ४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ङ) द्रव्यसंग्रह, मूल, ३०

(च) अनगारधर्मामृतं, २।३७

२७. (क) आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बंधः।

—राजवार्तिक, १।४।१७।२६।२९

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान २, उद्देशा २

(ग) प्रज्ञापना पद २३ सूत्र ५

२८. (क) समवायाङ्ग, समवाय ४

(ख) मूलाचार, गाथा १२२१

(ग) तत्त्वार्थसूत्र, ८।३

(घ) द्रव्यसंग्रह मूल, ३३

(ङ) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, मूल, ८९।७३

२९. 'कर्म, कर्मबन्ध और कर्मक्षय' लेखक—राजीव प्रचंडिया, ऐडवोकेट 'जिनवाणी', कर्मसिद्धान्त विशेषाङ्क, १९८४,

३०. (क) आस्रवनिरोधः संवरः—तत्त्वार्थसूत्र ९।१

(ख) सर्वेषामास्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः—योगशास्त्र, ७९ पृष्ठ ४

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २९, सूत्र ११

(घ) स्थानाङ्ग वृत्ति, स्था० १

(ङ) बृहद्नयचक्र, १५६

(च) राजवार्तिक, ९।१।६।५८७

३१. (क) सपुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्यभावविभेदतः। यः कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्य-संवरः। भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावसंवर।

—योगशास्त्र, ७९-८०, पृष्ठ ४

(ख) स्थानाङ्ग १।१४ की टीका

(ग) सप्त तत्त्वप्रकरण, हेमचन्द्रसूरि, ११२

(घ) तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि, ९।१

(ङ) द्रव्यसंग्रह, २।३४

(च) पंचास्तिकाय, २।१४२, अमृतचन्द्र वृत्ति,

(छ) पंचास्तिकाय, २।१४२, जयसेन वृत्ति,

३२. (क) संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्गलादान-विच्छेदो द्रव्यसंवरः—सर्वार्थसिद्धि, ९।१।४०६।५

(ख) चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदु....चाणित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा—द्रव्यसंग्रह, मूल, ३४-३५

(ग) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२

(घ) समिई गुप्ति परिस्सह-जइधम्मो भावणा चरित्ताणि। पणतिदुवीसदसवार-पंचभेएहिं....सगवन्ना।

—नवतत्त्वप्रकरण, २५

(ङ) स्थानाङ्ग ५।२।४१८

(च) समवायाङ्ग, ५

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३. (क) एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा—सर्वार्थसिद्धि, १।४
(ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक, अकलंक, १।४।११
(ग) कर्मणां विपाकतस्तपसा व क्षयो निर्जरा ।
—तत्त्वार्थभाष्य, हरिभद्रीयवृत्ति, १।४
(घ) दशवैकालिक, ९३
(ङ) नवतत्त्वप्रकरण, ११ भाष्य ९० देवगुप्तसूरिप्रणीत
(च) स्थानाङ्ग, स्था० ५, उ० १, सूत्र ४०९
(छ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १३, गाथा १६
(ज) पुव्वकउकम्म सडणं तु णिज्जरा ।—भगवती आराधना, मू० १८४९।१६५९
(झ) बंधपदेशग्गलणं णिज्जरणं । —बारस अणुवेक्खा, ६६
(ञ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल, १०३

३४. (क) भावनिर्जरा........द्रव्यनिर्जरा । —द्रव्यसंग्रह, टीका ३६।१५०,१५१
(ख) सा पुणो हवेइ दुविहा । पठमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ।
—भगवती आराधना, मूल, १८४७-४८।१६५९
(ग) द्विविधा यथा कालौपक्रमिकभेदात् अष्टधा मूलकर्मप्रकृतिभेदात् । एवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पा भवति कर्मरसनिर्हरणभेदात् ।।
—राजवार्तिक १।९।१४।४०।१९
(घ) निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदतः ।
—धर्मशर्माभ्युदयम्, २१।१२२-१२३
(ङ) तत्त्वार्थसार, ७।२-४
(च) चन्द्रप्रभचरितम्, १८।१०९-११०
(छ) द्वादशानुप्रेक्षा—निर्जरा अनुप्रेक्षा, १०३-१०४
(ज) स्थानाङ्गसूत्र ९।१६
(झ) काष्ठोपलादिरूपाणां विदानानां विभेदतः....।'
—शान्तसुधारस, निर्जराभावना २-३,
(ञ) नवतत्त्वप्रकरण, ११, देवगुप्तसूरिप्रणीत ।
(त) स्थानाङ्ग, १।१६ की टीका

३५. (क) तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः—सभाष्य न्यायसूत्र, ७।७।२२
(ख) ईश्वरकृष्णकारिका १
(ग) योगसूत्र, २-२६
(घ) दर्शन और चिन्तन, लेखक—पं. सुखलालजी, योगविद्या, पृष्ठ २५२
(ङ) आत्यन्तिको दुःखाभावः मोक्षः—न्यायवार्तिक,
(च) न्यायसूत्र, १।१।२ पर भाष्य

३६. धर्म, दर्शन, मनन और मूल्याङ्कन, लेखक—श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री, अध्यात्म—धर्म/दर्शन का परमलक्ष्य, पृष्ठ २३६

३७. दर्शन और चिन्तन, लेखक,—पं. सुखलालजी, योगविद्या, पृष्ठ २५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८. जैनदर्शन में मुक्ति: स्वरूप और प्रक्रिया, लेखक—श्री ज्ञानमुनिजी महाराज (जैनभूषण), श्री पुष्करमुनिअभिनन्दनग्रन्थ, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३१६

३९. चिन्तन की मनोभूमि, लेखक, उपाध्याय अमरमुनि, पृष्ठ ६०

४०. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २९, सूत्र ७२

(ख) दशाश्रुतस्कन्ध, अ० ५, गाथा १३

(ग) मोक्ष असने ···। स आत्यान्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते ।

—राजवार्तिक, १।१।३७

(घ) धवला, १३।५,५,८२

(ङ) भगवती आराधना, वि० ३८।१३४

(च) सर्वार्थसिद्धि, १।१ की उत्थानिका

(छ) परमात्मप्रकाश, २।१०

(ज) ज्ञानार्णव०, ३।६-१०

(झ) द्रव्यसंग्रह (टीका), ३७

(ञ) जं अप्पसहावादो-मूलोत्तर पयडिसंचियं मुच्चइ ।

—बृहद्नयचक्र, १६९

(त) आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः । —समयसार, आत्मख्याति, २८८

(थ) कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।—तत्त्वार्थसूत्र, १०।२

४१. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग ३, क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी, पृष्ठ ३३२

४२. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३६, गाथा ५७

(ख) ज्ञानार्णव, ४२

(ग) तत्त्वार्थसूत्र, १०।५

(घ) नियमसार, मूल ७२

(ङ) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मूल ६८।१७७

(च) पंचसंग्रह, प्राकृत १

४३. कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तो चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु····।

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड (जी० प्र०) १९७।४४१।१५

४४. (क) सामान्यादेको मोक्षः । द्रव्यभावभोक्तव्यभेदादनेकोऽपि ।

—राजवार्तिक, १।७।१४।४०।२४

(ख) धवला, १३।५, ५, ८२३।४८।१

४५. (क) तं मुक्खं अविरूद्धं दुविहं खलु दव्व भावगदं ।—बृहद्नयचक्र, १५९

(ख) द्रव्यसंग्रह, टीका, ३७।१५४।७

४६. (क) निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन····समस्तानां कर्मणां ।

—भगवती आराधना, ३८।१३४।१८

(ख) कर्मनिर्मूलनसमर्थः····द्रव्यमोक्ष इति ।

—पंचास्तिकाय (ता. वृ.) ०१८।१७३।१०

(ग) प्रवचनसार (ता० वृ०) ८४।१०६।१५

(घ) द्रव्यसंग्रह, टीका २८।८५।१४

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४७. परमात्मप्रकाश, टीका, २।४।११७।१३
४८. (क) प्रज्ञापनासूत्र, पद २१ से २९, उ० १, २, सूत्र २९३ से २९९
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय ३३
(ग) षट्खण्डागम, १३।५, ५, सूत्र १९।२०५
(घ) तत्त्वार्थसूत्र, ८।४
(ङ) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, मूल, ८।७
(च) द्रव्यसंग्रह, टीका, ३३।९०।६
(छ) बृहद्नयचक्र, ८४
४९. (क) पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्।
—तत्त्वार्थसूत्र ८।५
(ख) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, मूल, २२।१५
(ग) षट्खण्डागम, ६।१९-१ सू०/पृ० १३।१४,१५।३१,१७।३४.१९।३७,२५।४८, २९।४९,४५।७७,४६।७८
(घ) पंचसंग्रह, प्राकृत अधिकार, २।४
५०. (क) धवला, १४।५,६, ७१।५२।६
(ख) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मूल २४४।५०७
(ग) नियमसार, (ता० वृ०) १०७
५१. दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलालजी, अध्याय—कर्मवाद, पृष्ठ २२८
५२. कर्म, कर्मबन्ध और कर्मक्षय, लेखक—राजीव प्रचंडिया, एडवोकेट
जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषाङ्क १९८४
५३. (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ९,१,१२
(ख) योगशास्त्र, प्रकाश १२
(ग) ज्ञानसार, मोहाष्टक, विद्याष्टक, तत्त्वदृष्टि-अष्टक
(घ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल १९२
५४. (क) उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ११७-११८, १२६ निर्वाण १२०-१२६
(ख) पातंजलि योगसूत्र, पाद १, सूत्र ३६, पाद ३, सूत्र ४८-४९ का भाष्य पाद १ सूत्र १ की टीका।
५५. प्रो० सि० वि० राजबाड़े-सम्पादित मराठी भाषान्तरित मज्झिमनिकाय सूत्र ६, पृ० २, सू० २२ पृ० १५, सूत्र ३४ पृ० ४, सू० ४८ पृ० १०
५६. (क) पंचसंग्रह, प्राकृत, १।३
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, मूल ८।२९
५७. (क) षट्खण्डागम, १।१,१। सू० ९-२२।१६१-१९२
(ख) राजवार्तिक, ९।१।११।५८८।८
(ग) मूलाचार, ११९५-११९६
५८. (क) अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा····बाह्यात्मान्तरात्मा च।
—अध्यात्ममत परीक्षा, गाथा १२५
(ख) योगावतारद्वात्रिंशिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५९. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, ३०।६
(ख) कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः ।—सर्वार्थसिद्धि, ९।६
(ग) तत्त्वार्थसार, ६।१८
(घ) कर्मदहनात्तपः ।—राजवार्तिक, ९।१९।१८
(ङ) चारित्रसार, १३३।४
(च) पद्मनन्दिपंचविंशतिका, १।९८

६०. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०।७ से ९
(ख) मूलाचार, ३४५, ३४६
(ग) सर्वार्थसिद्धि, ९। १९
(घ) चारित्रसार, १३३
(ङ) तत्त्वार्थसूत्र, ९।१९-२०
(च) भगवतीआराधना, २०८

६१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, २८। ३०-१४
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, १।२, ४
(ग) पंचास्तिकाय, २ ।१०८
(घ) दर्शनपाहुड़, १९
(ङ) पंचसंग्रह, प्राकृत, १।१५९
(च) मूलाचार, २०३
(छ) द्रव्यसंग्रह, ४१
(ज) वसुनंदि श्रावकाचार, १०
(झ) धवला, १।१,१,४
(ञ) समयसार, तात्पर्याख्यावृति, १५५

६२, (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८, गाथा ३०
(ख) दर्शनपाहुड़, मूल २१,

६३. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८, गाथा २८
(ख) ज्ञानार्णव, ६।५४

६४. (क) रयणसार, ५४,१५८
(ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३४,३६

६५. स्थानाङ्गसूत्र, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१

६६. (क) नन्दीसूत्र, गाथा ८०
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, १-१३
(ग) धवला, १।१ ,१,१।३७।१

६७. (क) भगवतीआराधना, मू० ८।४१
(ख) शीलपाहुड, मू० ५,
(ग) मूलाचार, ८९७

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही द्वीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६८. (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० १

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८, गाथा १-३

(ग) तिविधे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा नाणसम्मे, दंसणसम्मे चारित्तसम्मे ।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्था० ३, उ० ४; सूत्र १९४

—मंगलकलश

३९४, सर्वोदयनगर

आगरा रोड, अलीगढ़ (उ. प्र.)

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org